दिखाया गया है, जो भगवत्प्रेम से शून्य हैं। यह भगवान् का आदि रूप नहीं है।

विविध रसों में श्रीभगवान् के प्रेम में निमग्न शुद्धभक्त विश्वरूप की ओर आकर्षित नहीं होते। स्वयं श्रीभगवान् अपने मूल कृष्णरूप में उनके साथ अलौकिक प्रेमरस का विनिमय करते हैं। अतएव स्वाभाविक ही है श्रीकृष्ण में अतिशय अंतरंग सखाभाव वाला अर्जुन इस विश्वरूप को देखकर आह्लादित नहीं हुआ; अपितु भयभीत हो उठा। श्रीकृष्ण का नित्य सहचर होने के कारण अर्जुन निस्सन्देह दिव्य दृष्टि से युक्त था और अवश्य ही, साधारण मनुष्य नहीं था। इसी कारण वह विश्वरूप पर मुग्ध नहीं हो सका। यह रूप उन मनुष्यों को मनोहर प्रतीत हो सकता है, जो उत्थान के लिए सकामकर्मों में लगे हैं। भक्तियोग के परायण महानुभावों को तो श्रीकृष्ण का द्विभुजरूप ही नित्य परम प्रिय है।

m. Imp

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

मत्कर्मकृत् =मेरा कार्य करने वाला; **मत्परमः** =मुझ परमसत्य के परायण; **मद्भक्तः** =मेरी भक्ति में तत्पर; **संगवर्जितः** =पूर्वकृत सकामकर्म, ज्ञानादि से मुक्त; **निर्वैरः** =वैरभाव से रहित; **सर्वभूतेषु** =जीवमात्र में; **यः** =जो; **सः** =वह; **माम्** =मुझ को; **एति** =प्राप्त होता है; **पाण्डव** =हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो मनुष्य पूर्वकृत सकाम कर्म और ज्ञान से मुक्त होकर मेरी शुद्धभक्ति में तत्पर है और मेरे परायण है तथा प्राणीमात्र का मित्र है, वह निस्सन्देह मुझ को ही प्राप्त होता है।।५५।।

तात्पर्य

जो परमधाम कृष्णलोक में पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त होकर उनसे अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, उसे स्वयं श्रीभगवान् द्वारा कहे इस मन्त्र को अंगीकार करना होगा। अतएव इस श्लोक को गीता का सार कहा जा सकता है। भगवद्गीता ग्रन्थ का प्रयोजन उन बद्धजीवों से है, जो प्रकृति पर प्रभुत्व करने के उद्देश्य से इस प्राकृत-जगत् में क्रियाशील हैं और जिन्हें यथार्थ भागवतजीवन का ज्ञान नहीं है। भगवद्गीता स्वरूपभूत आत्मतत्त्व और श्रीभगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को जानकर अपने घर—भगवान् के धाम को लौटने का मार्ग प्रशस्त करती है। इस श्लोक में पारमार्थिक क्रिया—भक्तियोग में सफलता की पद्धति का स्पष्ट प्रतिपादन है। जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, अपनी सम्पूर्ण शक्ति कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में ही लगानी चाहिये। ऐसा कोई कार्य न करे, जो श्रीकृष्ण की सेवा से सम्बन्ध न रखता हो। इसकी संज्ञा **कृष्णकर्म** है। विविध क्रियाओं में तत्पर रहा जा सकता है; परन्तु इनके फल में आसक्त न होकर उसे श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित करना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यापार करता हो तो व्यापार के लाभ को श्रीकृष्ण की सेवा